संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भक्ति काव्य परम्परा में जैन कवियों का हिन्दी पद साहित्य : एक समालोचनात्मक अध्ययन

बिहार विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ. नागेन्द्रप्रसाद, एम. ए., डी. लिट्
निदेशक, प्राकृत, जैनशास्त्र एवं अहिंसा
शोध संस्थान, वैशाली

गवेषिका
श्रीमती सुनीता जैन
प्राकृत, जैनशास्त्र एवं अहिंसा
शोध संस्थान, वैशाली

पंजीकरण संख्या 21150
सन् 1977

प्राकृत, जैनशास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली
१९८१

Mr. Rawat Kumar Varma's Copy

Report & Rem. will send

on 19.4.82.

Dutt Nicobar Range

on 7.9.82

RK Varma

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भक्ति काव्य परम्परा में जैन कवियों का हिन्दी पद साहित्य : एक समालोचनात्मक अध्ययन

बिहार विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ. नागेन्द्रप्रसाद, एम. ए., डी. लिट्
निदेशक, प्राकृत, जैनशास्त्र एवं अहिंसा
शोध संस्थान, वैशाली

गवेषिका
श्रीमती सुनीता जैन
प्राकृत, जैनशास्त्र एवं अहिंसा
शोध संस्थान, वैशाली

पंजीकरण संख्या 21150
सन् 1977

प्राकृत, जैनशास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली
१९८१

C E R T I F I C A T E

This is to certify that Shrimati Sunita Jain has worked and prepared her Thesis entitled "SANSKRIT, PRAKRIT EVAM APABHRAMŚA BHAKTI KĀVYA PARAMPARĀ MEIN JAIN KAVION KĀ HINDI PADA SĀHITYA : EK SAMĀLOCHANATMAK ADHYAYANA" under my supervision. She is submitting her Thesis for Examination of the Ph.D. Degree of the Bihar University. The present work is an embodiment of her own research and the contents of her Thesis did not form a basis of the award of any previous degree to the candidate or to the best of my knowledge, to any body else . In character and habit she is a fit and proper person for such examination.

Nagendra Prasad.
19.10.81.

(NAGENDRA PRASAD)
Director
Research Institute of Prakrit,
Jainology and Ahimsa , Vaishali.

Director
Research Institute of Prakrit,
Jainology & Ahimsa, Vaishali

प्राक्कथन

जैन परम्परा में निःश्रेयस या मोक्ष के लिए भक्ति, ज्ञान और कर्म या चरित्र को अन्य परम्पराओंकी तरह स्वतन्त्र मार्गों के रूप में नहीं स्वीकार किया गया। वहां ये तीनों समन्वित रूप में मोक्षमार्ग बताये गये हैं। ज्ञान और चारित्र की एकता के महत्व का विवेचन करते हुए भट्ट अकलंक ने लिखा कि जिस प्रकार दावानल में दहकते हुए जंगल में अंधा दौड़ते-दौड़ते हुए भी मार्ग न देख पाने के कारण जल जाता है और पंगु देखते-देखते कि रास्ता यह है, यहां से निकल कर बचा जा सकता है, किन्तु भाग नहीं सकता, इसी प्रकार क्रियाहीन व्यक्ति का ज्ञान और अज्ञानी की क्रिया दोनों व्यर्थ हैं। और सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र दोनों ही सही नहीं हो सकते।

सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हुए, उसे आचार्यों ने श्रद्धा शब्द से अभिहित किया है। समन्तभद्र परमार्थ आप्त, आगम और तपोभृतों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं --"श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।" (रत्न० का० ४)

मोक्षमार्ग के विवेचन के सन्दर्भ में यह लिखा गया है कि कुन्दकुन्द ने यथार्थतः रत्नत्रय से युक्त आत्मा को ही मोक्षमार्ग कहा है।

इससे स्पष्ट है कि भक्ति, ज्ञान और कर्म को जैन धर्म में साधना के तीन स्वतन्त्र मार्ग नहीं माना गया।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास को देखने पर ज्ञात होता है कि यहां सुदूर अतीत काल से ले कर ब्राह्मण और श्रमण विचारधाराओं का समानान्तर विकास होता रहा है। पुरातात्विक और ऐतिहासिक गवेषणाओं से इस तथ्य की पुष्टि के आधार प्राप्त होते हैं। व्रात्य, वातरशनामुनि, केशीश्रमण आदि के उल्लेख इस दृष्टि से महत्व-पूर्ण हैं।

उक्त दोनों विचारधाराओं की सांस्कृतिक विकास यात्रा में अनेक प्रकार के आदान-प्रदान तो हुए, किन्तु विचारधाराओंकी मौलिकता और चिन्तन का

वैशिष्ट्य सुरक्षित रहा आया। अपनी इस मौलिकता और वैशिष्ट्य को बनाये रखने के लिए दोनों विचारधाराओंमें युगों युगों मेंहुए के कारण सांस्कृतिक चेतना के प्रवाह को तीव्रता और वेगवती प्रवहणशील हुई ।

इस दृष्टि से ईसा पूर्व छठी शताब्दी का युग सबसे महत्वपूर्ण सकता है जब श्रमण धारा मेंदो महान् तेजस्वी महापुरुष वर्धमान महावीर और बुद्ध उत्पन्न हुए ।

उन्होंने भारत की समष्टिगत चेतना को समग्र रूप से उद्वेलित किया उसमें नयी प्राणवत्ता और शक्ति का संचार किया ।

उत्तरकाल में जैन और बौद्ध के रूप में इस विचारधारा का जो विकास हुआ उसने भारत के सांस्कृतिक इतिहास की प्रत्येक मूर्त और अमूर्त, सूक्ष्म और स्थूल विधा को अपने संस्पर्श, आधार और कौशल से नये आयाम दिये । जैन धर्म ने भारत में उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक भारतीय जीवन मूल्यों,साहित्य, कला और शिल्प निर्मितियोंका एक अक्षय भण्डार भरा है । बौद्धधर्म भारत में ही नहीं एशिया के अनेक देशों में भी वहां की सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक जीवन तथा साहित्य और कला को नयी भावभूमि, नये जीवन मूल्य और नये आयाम देता रहा ।

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की इन मौलिक विचार-धाराओं का अध्ययन-अनुसन्धान अभी तक प्राय: एक ओर ही केन्द्रित रहा आया । सांस्कृतिक मूल्यांकन की दृष्टि से अब तक जो भी अध्ययन-अनुसन्धान कार्य हुए उनका आधार और केन्द्रबिन्दु वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, स्मृति, पुराण और श्रौत-स्मार्त परम्पराओं से अनुप्राणित संस्कृति और विभिन्न सांस्कृतिक विधाएं रही हैं ।

पश्चिमी विद्वानों के प्रयत्नों के फलस्वरूप बौद्ध परम्परा विषयक जो अनुसन्धान कार्य हुए उन्हें साहित्य, दर्शन और कला तक ही सीमित कहा जा सकता है । जीवन-दृष्टि और मानव के समष्टिगत सांस्कृतिक विकास में बौद्धधर्म का जो अपूर्व अवदान है, उसका मूल्यांकन किया जाना अभी शेष रहता है ।

जैन धारा का अब तक जो अध्ययन हुआ है, उसे देखते हुए, यह कहना उचित होगा कि वास्तव में जैन परम्परा के सांस्कृतिक अध्ययन का अब श्रीगणेश हो रहा है। इस शताब्दी में भारतीय विद्या-संस्कृति के अध्ययन-अनुसन्धान की दृष्टि से पूरे विश्व में जो एक नयी चेतना जनमी है, उसके फलस्वरूप अब जैन परम्परा के अवदान की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय साधना-पद्धतियों का अध्ययन सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय माना जा सकता है, क्योंकि जनमानस और सामाजिक जीवन-मूल्यों के निर्माण में इनका प्रमुख हाथ रहा है।

`स्वर्गकाम: यजेत्` और `शतक्रतु:` की अवधारणा, उपनिषदों का परब्रह्म, भागवद् की माधुरी उपासना, गीता के श्रीकृष्ण, आड्वारों की वैष्णव भक्ति, तुलसी के राम और सूर के कृष्ण की विभोर कर देने वाली साधना-भक्ति, शैवों, शाक्तों, कौल, कापालिकों, अघोर पंथियों की विकट तान्त्रिक साधनाएं, महायानी बौद्धों की वज्रसाधना, सहजयान सिद्धों की सहज साधना, सूफी सन्तों का `इश्क`, कबीर का निर्गुण ब्रह्म, नाथों की योगसाधना और ऐसे ही कितने प्रकार साधना की उर्वरा भूमि पर अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुए।

इन तमाम साधना पद्धतियों के प्रभावों, आक्रमणों, सांस्कृतिक आदान-प्रदानों, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक विवशताओं से झुझते, बचते-बचाते, प्रभावों को आत्मसात् करते हुए व्रात्यों और वातरशना मुनियों, केशी श्रमणों, पार्श्वापित्यों, अर्हतों, जिनों की साधना पद्धति श्रमण-श्रमणियों, वनवासी और चैत्य-वासी मुनियों, भट्टारकों, उपासक-उपासिकाओं, श्रावक-श्राविकाओं के माध्यम से हजारों-हजार वर्षों की दीर्घकालीन सांस्कृतिक यात्रा करने के बाद भी अपनी मूल-धारा से विच्छिन्न नहीं हुई। सुरा और सुन्दरी के मोहक आकर्षणों के बावजूद अहिंसा और वीतरागता के उपासकों ने मद्य, मांस और मैथुन को साधना का अंग किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं किया।

महावीर और बुद्ध की परम्पराओं को आगे बढ़ाने वाले करुणा की प्रतिमूर्ति, अहिंसा के साधक श्रमण विकास यात्रा में आगे बढ़े तो महायान-वज्रयानी शाक्य भिक्षु `कमल और कुलिश` की साधना में सुरा और सुन्दरी के आकर्षण से मुक्त नहीं रह सके । महावीर के श्रमण ऐसी कठिन परीक्षा की घड़ियों में भी इन आकर्षणों से कैसे बच पाये, यह अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिए गवेषणा का एक महत्वपूर्ण विषय हो सकता है।

भक्ति के सन्दर्भ में जैन परम्परा के अध्ययन का जब भी प्रश्न आया, उसे ज्ञानमार्गी कह कर टाला जाता रहा । वास्तव में जैन परम्परा में भक्ति का जो वीतरागी स्वरूप प्रतिष्ठित हुआ और हजारों-हजार वर्षों की विकास यात्रा के बाद भी जिसमें अहिंसा और ब्रह्मचर्य के मूल्य अक्षुण्ण बने रहे, उसे भारत के सांस्कृतिक इतिहास की एक अद्भुत घटना मानना चाहिए । भारतीय मनीषा का ऐसा उत्कर्ष अन्यत्र दिखाई नहीं देता ।

जैन परम्परा में भक्ति अथवा जैन भक्ति साहित्य के अनुशीलन की दृष्टि से विशाल क्षेत्र और व्यापक संभावनाएं हैं । डा० प्रेमसागर जैन ने जैन कवियों के हिन्दी साहित्य को सन्दर्भ में रख कर जैन भक्ति और भक्ति साहित्य की जो व्यापक जानकारी अपने शोध प्रबन्ध में दी है, वह अनुसन्धाताओं की आंखों को चौंधयाने वाली है कि इतने विपुल साहित्य, इतने विस्तृत क्षेत्र पर अभी तक विद्वानों का ध्यान ही नहीं गया । पर इस दिशा में इसे उनका `अ-द्वितीय` या इकलौता प्रयत्न ही कहना चाहिए। जैन भक्ति के तात्विक विवेचन तथा जैन कवियों के हिन्दी पद साहित्य के सन्दर्भ में किया गया, प्रस्तुत अध्ययन इस दिशा में आला चरण है । डा० जैन के `कैनवास` में विषय की व्यापकता के कारण जिन तत्वों का पूर्ण रेखांकन नहीं हो सका उन चित्रों का भी यहां सुस्पष्ट मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया गया है ।

श्रमण परम्परा का श्रौत-स्मार्त या ब्राह्मण परम्परा से तत्वमीमांसीय और आचारमीमांसीय सिद्धान्तों का जो मूलभूत अन्तर है, वह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और जैन कवियों के हिन्दी पद साहित्य में समान रूप से अनुस्यूत है ।

देश, काल और भाषा की भिन्नता होते हुए भी जीव और जगत् के स्वरूप के विषय में तात्विक दृष्टि, परमात्म तत्व और मुक्ति की अवधारणा, पुण्य पाप, स्वर्ग-नरक और आध्यात्मिक विकास के आधार भूत सिद्धान्त और आचार संहिता के अहिंसा मूलक आधारों में तात्विक दृष्टि से इस सम्पूर्ण साहित्य में कोई अन्तर नहीं है।

भगवान् महावीर के उपदेशों का संग्रह उनके शिष्यों ने १२ भागों में किया था, जिसे द्वादशांग कहा गया है। इस द्वादशांग में सातवां अंग `उवासगदसाओ` है, जिसमें महावीर के दस उपासकों का वर्णन मिलता है।

वर्तमान में उपलब्ध उवासगदसाओ में आनन्द आदि उपासक भगवान् महावीर की जिस प्रकार उपासना करते हैं और जिस साधना पद्धति का अनुसरण करते हैं, उसका विवरण प्राप्त हो जाता है। उपासकों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली से भी भक्ति के स्वरूप का परिज्ञान होता है।

प्राकृत आगमों में उपलब्ध विनय और आचार विषयक सामग्री, तीर्थंकरों तथा अन्य पुण्यपुरुषों के चरित्र, उनका गुणानुवाद, आगे चल कर प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में लिखे गये स्तुति-स्तोत्र, पुराण, चरितग्रन्थ, अन्य विधाओं के साहित्य में मंगलाचरण के रूप में निबद्ध स्तुति, गुणस्मरण आदि सम्पूर्ण सामग्री को भक्तिकाव्य परम्परा में परिगणित किया जाना चाहिए। यद्यपि इस परम्परा में शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र जैसे ग्रन्थ नहीं लिखे गये तथापि उपर्युक्त विधा के ग्रन्थों की सामग्री परिमाण और गुणवत्ता दोनों ही दृष्टियों से भक्ति परम्परा को विशद रूप में प्रस्तुत करती है। प्रस्तुत प्रबन्ध में प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की भक्ति-काव्य परम्परा को इसी अर्थ में परिगृहीत किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध में प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश साहित्य के आधार पर जैन भक्ति को विश्लेषित करके उसके सन्दर्भ में जैन कवियों के हिन्दी पद साहित्य

का अनुशीलन किया गया है । प्रबन्ध का शीर्षक सामान्यतया देखने पर बहुत विस्तृत प्रतीत हो सकता है, किन्तु विषय की सुस्पष्ट जानकारी के लिए ऐसा आवश्यक प्रतीत हुआ । प्रस्तुत अनुशीलन में मात्र साहित्यिक सर्वेक्षण अभीष्ट नहीं रहा, प्रत्युत प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य में अनुस्यूत अन्त:सूत्र के सन्दर्भ में जैन भक्ति के स्वरूप को विश्लेषित करके उसके आलोक में जैन कवियों के हिन्दी पद साहित्य का विवेचन और मूल्यांकन करना प्रयोज्य रहा है जिसे निम्नांकित क्रम से प्रस्तुत किया गया है ।

प्रथम अध्याय `जैन धर्म में भक्ति : धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि ` शीर्षक है । भक्ति की अवधारणा और उसके विविध रूपों को समझने के लिए सर्व-प्रथम उन धार्मिक मान्यताओं एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का परिज्ञान आवश्यक है जिनकी आधारशिला पर जैन भक्ति का महाप्रासाद निर्मित हुआ तथा जो स्वयं प्राकृत, संस्कृत अपभ्रंश और उस परम्परा में रचित हिन्दी साहित्य की रीढ़ हैं । इसलिए इस अध्याय में इनका विवेचन किया गया है ।

द्वितीय अध्याय `जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा` शीर्षक है । इसमें तीन परिच्छेदों में प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश साहित्य के आधार पर जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा, भक्ति के अंग और प्रकार तथा भक्ति के प्रयोजन को विवेचित किया गया है ।

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य में भक्ति से सम्बन्धित विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया गया है, जिसका क्रमश: अर्थविस्तार भी हुआ है और शब्दावलि में वृद्धि भी । भक्ति के लिए प्राचीन शब्द `उवासणा` था, जिसके आधार पर महावीर के शिष्यों को `समणोवासिया` शब्दों का प्रयोग किया गया । और भक्ति के लिए `पज्जुवासणा` शब्द का प्रयोग हुआ ।

प्राकृत में भक्ति के लिए `भत्ति` शब्द का व्यवहार भी प्राचीन समय से मिलता है और `आराहणा` शब्द का प्रयोग भी पर्याप्त प्राचीन है । भक्ति के सन्दर्भ में `सामाइयं और वेयावृत` शब्दों के अर्थ की विकासयात्रा का पता लगाना

अपने आप में एक स्वतन्त्र अध्ययन की अपेक्षा रखता है ।

वंदण-णमंसण, थुदि, अंचण-पुज्जण भक्ति परिवार की प्राचीन शब्दावली में प्रयुक्त हैं । इन्हीं आधारों पर वन्दना, नमस्कार, स्तुति, स्तव, स्तोत्र पूजा आदि विधाओं का साहित्य निर्मित हुआ, जो प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी भाषाओं में समान रूप से उपलब्ध होता है ।

प्राचीन प्राकृत साहित्य में कीर्तन और शरणागति के सन्दर्भ भी प्राप्त हो जाते हैं, जिनके आधार पर भक्ति के विविध अंगों का विकास हुआ । कुन्दकुन्द ने `कित्तिसे` शब्द का प्रयोग किया है । कीर्तन के अन्तर्गत गुणस्तवन, स्तुति, नाम जप, नामस्मरण, नामसंकीर्तन आदि आ जाते हैं ।

`अर्चना-पूजा` का उल्लेख कुन्दकुन्द ने किया है, किन्तु यह सच है कि उत्तरकाल में मूर्तिपूजा के विस्तार के साथ उपासना के इस अंग का जितना आडम्बर पूर्ण विकास हुआ, उतना भक्ति के अन्य किसी अंग का नहीं हुआ । आगे तृतीय अध्याय में `जैन धर्म में मूर्ति पूजा` का भी प्रसंगत: विचार किया गया है ।

जैन भक्ति में `शरणागति` का प्राचीनतम रूप `चत्तारिसरण` में प्राप्त होता है, जहां अर्हन्त, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म की शरण को प्राप्त होने की बात कही गयी है -- चत्तारिसरणं पव्वज्जामि ।`

हिन्दी पद साहित्य में उक्त सभी विधाएं स्पष्ट रूप से प्राप्त होती हैं ।

इस प्रकार भक्ति की अवधारणा के साथ ही भक्ति के विविध अंगों और प्रकारों का भी विवेचन किया गया है ।

तीसरे परिच्छेद में भक्ति के प्रयोजन का विचार किया गया है । कुन्द-कुन्द प्रत्येक भक्ति के अंत में यही कहते हैं कि दु:ख का क्षय, कर्म का नाश, सुगति गमन, समाधिमरण तथा जिन गुण सम्पत्ति प्राप्त हो --`दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होइ मज्झं ।`

जैन मनीषियों ने भक्ति का चरम लक्ष्य निश्रेयस माना । उन्होंने भक्ति को नि:श्रेयस का साक्षात् हेतु भी नहीं माना, परम्परया हेतु माना, फिर भी भक्ति को अत्यधिक महत्व प्राप्त हुआ ।

भागवद् भक्ति से भिन्न सैद्धान्तिक मान्यता के कारण जैन कवियों ने जन्म जन्मान्तरों तक `चरणसेवा` या शरणागति नहीं चाही प्रत्युत `तब लौ लीन रहौं प्रभु जब लौं न पाया मोक्षपद मैंने ` कहकर भक्ति में तभी तक तल्लीनता चाही, जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता ।

लौकिक समृद्धि, दु:ख और विपत्तियों से निवारण आदि को भक्ति के आनुषंगिक प्रयोजन में यह कह कर समाप्त कर लिया गया है कि वृक्ष के नीचे बैठने पर जैसे छाया स्वयं होती है, वैसे ही भक्ति से दु:ख और विपत्ति तो स्वत: दूर होते हैं ।

प्रस्तुत अध्याय में इस सबका अनुशीलन किया गया है ।

तृतीय अध्याय `उपास्य-तत्व एवं भक्ति के अन्य उपादान` शीर्षक है । इसमें प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश ग्रन्थों के आधार पर पांच परिच्छेदों में उपास्य तत्व और भक्ति के अन्य उपादानों का विवेचन किया गया है ।

यद्यपि कुन्दकुन्द ने प्राकृत में तथा पूज्यपाद ने संस्कृत में १३ भक्तियों की अलग-अलग रचना की है, तथापि पर्याप्त पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि उपास्य-तत्व के अन्तर्गत जिन, जिनवाणी और जिनमार्गी या दूसरे शब्दों में देव, शास्त्र और गुरु ही मूल उपास्य तत्व है । वास्तव में जिन या देव तत्व या जिसे परमात्मतत्व भी कहा गया है, के अन्तर्गत तीनों समाहित हैं । और यह परमात्म-तत्व भी आत्मा स्वयं ही है । इस दृष्टि से उपास्य-तत्व `अप्पा` या आत्मा ही है । देव, शास्त्र और गुरु तो उसकी भिन्न-भिन्न संज्ञाएं हैं । साध्य और साधक दोनों आत्मा स्वयं है । यह द्वैत तभी तक प्रतीत होता है जब तक सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं होती । अन्तत: उपास्य और उपासक का द्वैत ही नहीं रह जाता ।

महावीर ने `अप्पा` को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताया था । प्राकृत वाङ्मय में आत्मवाद या जिसे अध्यात्मवाद कहा गया है उसके पुरस्कर्ता कुन्दकुन्द माने जाते हैं । संस्कृत में उमास्वाति, पूज्यपाद, अमृतचन्द्र, शुभचन्द्र, गुणभद्र तथा अपभ्रंश में जोइन्दु, रामसिंह, देवसेन और हिन्दी में रूपचन्द, ब्रह्म जिनदास, बनारसीदास, दौलत राम आदि ने इस धारा को आगे बढ़ाया ।

देव या परमात्म-तत्व की तरह ही उसकी वाणी या उपदेश, जिसे जिनवाणी, श्रुत, आगम या वाग्देवता के नाम से अभिहित किया गया है, भक्ति तत्व का महत्वपूर्ण अंग माना गया है ।

यद्यपि जैन परम्परा में वेदों की अपौरुषेयता की तरह जिनवाणी को अपौरुषेय नहीं कहा गया तथापि उसे `सर्वज्ञभाषित` और प्रमाण अविरुद्ध मानकर उसे ही उपास्य और उपादेय माना गया ।

श्रुत के साथ श्रुतधरों की भक्ति को भी महत्व दिया गया है ।

द्वितीय परिच्छेद में जिनवाणी या वाग्देवता तत्व का विविध दृष्टियों से विवेचन किया गया है

भक्ति के क्षेत्र में गुरु की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है । जैन परम्परा में भी गुरु को अत्यधिक महत्व प्राप्त है । पर यह `गुरु` है कौन ? इसके निर्धारक तत्व क्या हैं ? आत्मविकास में गुरु की भूमिका क्या है , आदि विषयों के आधार पर ही गुरुतत्व का निर्धारण हो सकता है ।

जैन परम्परा में अर्हन्त और सिद्ध को परमगुरु कहा गया है । उनके बाद आचार्य, उपाध्याय और साधु को गुरु माना गया । इनका गुरुत्व यही है कि ये जीव को निश्रेयस के मार्ग पर लगाते हैं ।

आध्यात्मिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि वास्तव में अपना गुरु आत्मा स्वयं है । अपने इस गुरुत्व का विकास आत्मा को स्वयं करना होता है । यही उसे निश्रेयस की ओर ले जाता है । तृतीय परिच्छेद में `गुरुतत्व` के विविध

पदों का विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद 'भक्ति के अन्य उपादान' शीर्षक है। देव, शास्त्र तथा गुरु के अतिरिक्त जैन परम्परा में भक्ति के अन्य अनेक उपादान माने गये हैं। उन सब का विश्लेषण करना न तो एक प्रबन्ध में सम्भव है और न यहां अभीष्ट ही है। अतएव इस परिच्छेद में संक्षेप में उनका विचार किया गया है। सामान्यतया अन्य उपादानों को स्तूप, चैत्य, जिन प्रतिमा, जिनालय, देवकुल तथा तीर्थों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। इनका विकास सुदूर अतीत से ले कर दीर्घ काल तक होता रहा और कालान्तर में भक्ति के उपादानों में उनका समावेश होता गया।

पांचवे परिच्छेद में जैनधर्म में मूर्तिपूजा पर ऐतिहासिक और समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। भक्ति के क्षेत्र में मूर्तिपूजा एक प्रबल और प्रभावकारी आधार के रूप में प्रतिष्ठित हुई तथा सामाजिक जीवन को इसने सर्वतः परिव्याप्त कर लिया। परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की पूजा विधियों का विकास हुआ और विभिन्न धाराओं में उनका व्यापक आदान-प्रदान हुआ। इतना ही नहीं इस पारस्परिक विनिमय में अनेक देवी-देवता तथा अन्य उपादान भी परिगृहीत होते गये।

इस प्रकारपांच परिच्छेदों में यह अध्याय पूर्ण होता है।

इस प्रकार तीन अध्यायों में प्रमुख रूप से भक्ति के स्वरूप और उसके प्रकार को, प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखित प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य के आधार पर विश्लेषित किया गया है। उक्त परम्परा में आगे चल कर हिन्दी में जो पद साहित्य निर्मित हुआ, उसका विश्लेषण, मूल्यांकन आगे के तीन अध्यायों में किया गया है और अन्तिम अध्याय में भारतीय भक्ति परम्पराओं के सन्दर्भ में जैन भक्ति के स्वरूप को जांचने-देखने के बाद उसका समारोप किया गया है।

जैन कवियों का हिन्दी पद साहित्य अपभ्रंश के माध्यम से प्राकृत और संस्कृत वाङ्मय की प्राचीन परम्परा से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। न केवल धार्मिक और सैद्धान्तिक मान्यताओं की दृष्टि से प्रत्युत, परम्पराओं, अनुश्रुतियों,

भिक्षाओं, वर्णकों, विधाओं, शैली तथा शब्दावलि की दृष्टि से भी जैन कवियों का पद साहित्य अपने उपर्युक्त पूर्ववर्ती साहित्य और उसके रचयिताओं की जीवनदृष्टि से समग्र रूपेण अनुप्राणित है । इसलिए इस पद साहित्य का अध्ययन इस अविच्छिन्न धारा के सन्दर्भ में ही किया जाना अपेक्षित एवं वांछनीय है ।

इतना विपुल साहित्य अभी भी अध्येताओं को सहज उपलब्ध नहीं है । इस बात को ध्यान में रखते हुए प्रबन्ध में हमने उन पदों का प्राय: मूल पाठ भी दे दिया है जिनका विशेष उपयोग किया गया है । इससे इन पदों के मूल्यांकन में सरलता होगी ।

काव्य की विभिन्न विधाओंके अतिरिक्त जैन कवियों ने हिन्दी में कई सहस्र पदों की रचना की है । डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने लिखा है कि `दो हजार से अधिक पद तो उन्हीं के संग्रह में हैं और इनसे भी दुगने पदों का अभी और संकलन किया जा सकता है ।`

वास्तव में हिन्दी साहित्य की इस महनीय निधि को प्रकाश में लाने का अभी तक समुचित प्रयत्न ही नहीं हुआ । डा० कासलीवाल ने ४०१ पदों का एक संग्रह प्रकाशित किया है । फुटकर रूप में भी कतिपय संग्रह प्रकाशित हुए हैं । प्रस्तुत अध्ययन के सन्दर्भ में लगभग पन्द्रह सौ पदों को जांचा-परखा गया है । सभी पदों की एक बड़ी विशेषता उनकी गेयता है ।

प्राकृत साहित्य में गीतों की परम्परा उपलब्ध है । `गाहा` छन्द स्वयं में गेय है ।

संस्कृत के छन्दों की लय और गेयता अपनी है फिर भी `गाहा` के समानान्तर संस्कृत में `आर्या` का अपना एक विशिष्ट स्थान है ।

अपभ्रंश में गीतों की आरम्भिक रूपरेखा स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है । पज्झटिका, घत्ता, रड्डा, तोटक, दोधक, चौपई, दुवई आदि छन्द गीति काव्य में मुख्यत: से प्रयुक्त हुए हैं । स्वयंभु, पुष्पदन्त, रइधू आदि अपभ्रंश कवियों के काव्य में गीति काव्य के लक्षण तो मिलते ही हैं, पद भी उपलब्ध होते हैं ।

जैन कवियों के पदों के वर्गीकरण का प्रश्न भी पर्याप्त महत्वपूर्ण है। कुछ विद्वानों ने उन्हें विभाजित करने के प्रयत्न किये हैं। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने निम्नलिखित वर्गीकरण सुझाया है --

१- भक्तिपरक पद

२- आध्यात्मिक पद

३- दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पद

४- शृंगार एवं विरहात्मक पद

५- समाज चित्रण वाले पद

डा० कासलीवाल ने उदाहरण के तौर पर कुछ पदों को उद्धृत भी किया है।

डा० प्रेमसागर जैन ने हिन्दी के अन्य कवियों के सांचों में ढाल कर पदों का अध्ययन किया है।

हमारी समझ से ये दोनों ही वर्गीकरण उपयुक्त नहीं हैं। इनका कथ्य वर्गीकरण पूर्ववर्ती परम्परा के सन्दर्भों से हट कर नहीं किया जाना चाहिए। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में भक्ति और अध्यात्म की जो धाराएं हैं, उनसे एक भी पद को अलग नहीं किया जा सकता। शृंगार या विरह, सिद्धान्त या दार्शनिकता तो अभिव्यक्ति के आधार बिन्दु पर निर्भर है, वह वर्गीकरण का आधार नहीं बन सकती।

इसी तरह वैष्णव भक्ति, सूफी या सगुण-निर्गुण विभाजनों में विभक्त करके भी इन पदों का सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

पद विभिन्न राग-रागिनियों में निबद्ध होने के कारण जनमानस को आकृष्ट करने के अच्छे साधन सिद्ध हुए। यही कारण है कि प्रचुर संख्या में पदों की रचना हुई।

यद्यपि यह कह पाना कठिन है कि हिन्दी में पद रचना सबसे पहले किसने आरम्भ की तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि १५ वीं शताब्दी में हिन्दी पदों की रचना सामान्य बात हो गयी थी।

डा० कासलीवाल ने राजस्थान के शास्त्र भंडारोंकी जो सूची (भाग ४) प्रकाशित की है उससे ज्ञात होता है कि १४० से भी अधिक जैन कवियों के पद उपलब्ध होते हैं।

इन कवियों ने देश की आध्यात्मिक एवं साहित्यिक चेतना को जागृत करने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया। १७ वीं शताब्दी में और उसके पश्चात् हिन्दी जैन साहित्य में अध्यात्मवाद की जो लहर दौड़ गयी थी, इस लहर के प्रमुख प्रवर्तक हैं कविवर रूपचन्द एवं बनारसीदास। इन दोनों के साहित्य ने समाज में जादू का कार्य किया। इनके बाद होने वाले अधिकांश कवियों ने अध्यात्म एवं भक्तिधारा में अपने पद-साहित्य को प्रवाहित किया। भक्ति एवं अध्यात्म का यह क्रम १९ वीं शताब्दी तक चलता रहा।

भाषा की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि जैन कवियों ने पदों की रचना परिष्कृत हिन्दी में की है तथापि क्षेत्रीय बोलियों का प्रभाव भी स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। रत्नकीर्ति और कुमुदचन्द्र का क्षेत्र बागड़ तथा गुजरात रहा है, इस कारण इनके पदों में बागड़ी और गुजराती शब्दों का उपयोग देखा जा सकता है। रूपचन्द, बनारसीदास, भूधरदास, जगतराम आदि आगरा के रहने वाले थे, इस लिए उनके पदों में उस क्षेत्र की बोली के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ब्रज, राजस्थानी और पंजाबी के शब्दों का प्रयोग भी कई पदों में दृष्टिगोचर होता है। समसामयिक शब्दावली भी प्रयुक्त हुई है।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी के जैन कवि तीर्थंकर महावीर की भाषानीति से भलीभांति अवगत थे। उनके सामने जन सामान्य तक अपनी बात को पहुंचाने का उद्देश्य प्रमुख था। इसलिए उन्होंने जनभाषा का प्रयोग किया। वैदेशिक शब्दों के प्रयोग से भी उन्हें कोई परहेज़ न था, पर सात्विकता पर आंच आये, ऐसे शब्दों के प्रयोग से वे बचते रहे। यही कारण है कि उनके पदों में कटुता का नामो-निशान नहीं है। सीख और ललकार-लताड़ में भी उन्होंने उपयुक्तता का ध्यान रखा है। `बावरे मन` `गंवार` `भोंदू` कह कर भी उन्होंने `हिये की आखें` खोलने का ही प्रयत्न किया है।

जैन कवियों के हिन्दी साहित्य की एक और बड़ी विशेषता की ओर अध्येताओं-आलोचकों का ध्यान जाना चाहिए । हिन्दी पद साहित्य के रचयिता सूर, तुलसी, कबीर, दादू, नानक आदि प्राय: सभी सन्त रहे हैं । बौद्ध सिद्ध, नाथ और सूफी भी सन्त-संन्यासी रहे । सन्तों द्वारा संसार की असारता, आत्मा, परमात्मा और भक्ति के पदों का गायन सहज स्वाभाविक था । जैन कवियों ने गृहस्थ हो कर भी अध्यात्म और भक्ति की जो धारा प्रवाहित की उसका कोई सानी नहीं है । भट्टारकों को छोड़ कर सभी जैन कवि गृहस्थ थे और पारिवारिक जीवन में रहकर काव्य रचना करते थे । फिर भी उनका स्वर सन्त-महात्माओं की तरह निर्भीक, बेलाग और प्रभावकारी है । यह उनकी शैलीगत विशेषता है ।

आगे के अध्यायों में पद साहित्य का जो विवेचन है उससे उपर्युक्त तथ्यों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ेगा ।

चतुर्थ अध्याय `भक्ति और भावाभिव्यंजना` शीर्षक है । इसमें तीन परिच्छेदों के अन्तर्गत भावाभिव्यक्ति के उन प्रकारों का विश्लेषण किया गया है, जिनके माध्यम से भक्त अपने भावों को अभिव्यक्त करता है ।

प्रथम परिच्छेद `विनय भाव` शीर्षक है । भक्ति में विनय का शीर्षस्थ स्थान है । भक्ति का प्राचीन अभिधान `विनय` ही है --`भक्तिर्विनय: ।`आराध्य की महत्ता का बोध और आत्मलघुता का स्थापन भक्ति की उत्कटता को क्रमश: अग्रसारित करता जाता है । स्तुति, गुणकीर्तन, नामजप, नामस्मरण, दास्य भाव, दैन्य शरणागति आदि की अभिव्यक्ति विनयभाव के अन्तर्गत मानी गयी है । पद साहित्य के रचयिता जैन कवियों ने पूर्व परम्परा के साहित्य से प्रेरणा और आधारभूत ग्रहण कर व्यापक रूप से विनय के पदों की रचना की है । रागीन प्रभावों और शब्दावली को भी इन पदों में सावधानी पूर्वक अधिगृहीत किया गया है ।

द्वितीय परिच्छेद में `दाम्पत्य भाव` का विश्लेषण है । हिन्दी काव्य परम्परा में दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति व्यापक रूप से मिलती है । जैन कवियों ने

सुमति और चेतन, आध्यात्मिक विवाह तथा नेमि-राजुल के कथाप्रसंग के माध्यम से दाम्पत्य भाव के अनेक सरस पदों की रचना की है। सम्पूर्ण सात्विकता की रक्षा करते हुए भी दाम्पत्य भाव की इतनी सहज अभिव्यक्ति हो सकती है, यह दर्शनीय है।

तृतीय परिच्छेद में वात्सल्य भाव का निरूपण है। तीर्थंकर के गर्भ और जन्म कल्याणकों के सन्दर्भ में वात्सल्य भाव का दर्शन होता है तथापि यह स्वीकार करना अनुचित नहीं है कि जैन कवियों ने वात्सल्य भाव विषयक वैसे पद नहीं रचे जैसे हिन्दी में सूरदास आदि के प्राप्त होते हैं। इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में बालभाव की उपासना की अपेक्षा वीतराग भाव की उपासना पर ही अधिक बल दिया गया है।

पंचम अध्याय `भक्ति और उद्बोधन` शीर्षक है। इसके अन्तर्गत चार परिच्छेद हैं, जिनमें विविध प्रकार के उद्बोधनकारी पदों का अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम परिच्छेद `चेतन को सम्बोधन` शीर्षक है। इसमें चेतन को सम्बोधित करके लिखे गये पदों का विश्लेषण है। इन पदों की मूल प्रेरणा `स्व-पर विवेक जागृत करना है। जीव या चेतन का वास्तविक स्वरूप क्या है और वह भ्रमवश किस प्रकार अपने स्वरूप को भूलकर संसार में फंसा हुआ है, इस स्थिति को स्पष्ट कर जीव को आत्मस्वरूप में प्रवृत्त करना इन पदों का अभिधेय है।

द्वितीय परिच्छेद में मन को सम्बोधित पदों का विश्लेषण किया गया है। मानव शरीर में मन ही उसकी सत् और असत् प्रवृत्तियों का केन्द्रबिन्दु है। वही उनका संचालक और नियन्ता है। इसलिए कवि `मनपंछी` को `जिनपद-पींजरे` में सुरक्षित हो कर निश्चिन्त होने की बात कहता है। कभी मन को नियन्त्रित करने और सत् प्रवृत्तियों में लगाने के लिए चेतावनी देता है।

तीसरा परिच्छेद `संसारी जीव को सम्बोधन` शीर्षक है। इसके अन्तर्गत

संसार की स्थिति, सांसारिक नातों-रिश्तों की नश्वरता, नरभव की दुर्लभता, होनहार और कर्मफल के स्वरूप को विवेचित किया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद 'संसारी जीव को सीख' शीर्षक है। अनेक पदों में मनीषियों ने संसारी जीव को संसार की यथार्थ स्थिति को समझ कर आत्मकल्याण में लगने की सीख दी है। मूलपरिच्छेद में उन पदों का अनुशीलन किया गया है।

षष्ठ अध्याय 'भक्ति, अध्यात्म और साधना' शीर्षक है। इसमें तीन परिच्छेद हैं, जिनमें भक्ति के धरातल से अध्यात्म के प्रशस्त पथ पर चल कर साधनायोग के उन्नत सुमेरु तक पहुंचने से सम्बद्ध पदों का विश्लेषण किया गया है।

जैन कवियों के पद साहित्य का मूल स्वर आध्यात्मिक है। भक्ति का आरम्भ 'विनय' से होता है और उसकी उपलब्धि ध्यान, साधना और समाधि के रूप में परिणत हो कर निश्रेयस में पर्यवसित होती है।

प्रस्तुत अध्याय के तीन परिच्छेदों में उक्त प्रकार के पदों का अनुशीलन किया गया है।

सप्तम अध्याय 'उपसंहार एवं निष्कर्ष' शीर्षक है। इसमें भारत में विकसित विभिन्न भक्ति परम्पराओं -- भागवद् भक्ति, वैष्णव भक्ति, बौद्ध परम्परा, रहस्यवाद, सूफी इश्क, तथा सगुण और निर्गुणोपासना का सिंहावलोकन करके प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किये गये अनुशीलन के निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं।

अन्त में चार परिशिष्ट दिये गये हैं। प्रथम परिशिष्ट में हिन्दी पद-साहित्य केरचयिता जैन मनीषियों की कालक्रम से तालिका दी गयी है। द्वितीय में हिन्दी साहित्य के रचयिता अन्य जैन कवियों की सूची है। और तृतीय में जैन कवियों द्वारा पद साहित्य में प्रयुक्त राग-रागनियों की तालिका दी गयी है तथा चतुर्थ में प्रस्तुत प्रबन्ध के सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची दी गयी है।

इस प्रकार सात अध्यायों और चार परिशिष्टों में प्रस्तुत प्रबन्ध पूर्ण हुआ है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के वर्तमान रूप प्राप्त होने तक की विकास यात्रा में अनेक विद्वज्जनों, मित्रों और परिजनों का बहुमूल्य सहयोग रहा है। उन सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझती हूं।

यह शोध प्रबन्ध प्राकृत, जैनशास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान के निदेशक आदरणीय डाक्टर नागेन्द्रप्रसाद जी के निर्देशन में बिहार विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि हेतु प्रस्तुत हो रहा है। उनकी अनवरत प्रेरणा तथा आत्मीयतापूर्ण सहयोग से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है। इसके लिए मैं उनके प्रति हृदय से आभारी हूं।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में प्राकृत एवं जैनागम विभाग के अध्यक्ष, अपने पति आदरणीय डा० गोकुलचन्द्र जैन के अमूल्य योगदान के प्रति आभार व्यक्त करने में अपने को असमर्थ पा रही हूं। वास्तव में उन्हीं की अनवरत प्रेरणा, सहयोग एवं मंगल आशीर्वाद से मैं इस कार्य को करने में सफल हुई हूं।

न्यायाचार्य डा० दरबारीलाल जी कोठिया, वाराणसी, उदयपुर विश्वविद्यालय में जैन विद्या तथा प्राकृत विभाग के अध्यक्ष, डा० प्रेमसुमन जैन, डा० सनत्कुमार जैन, डा० शीतलचन्द्र जैन तथा श्रीमती शारदा जैन, श्री कुमार सत्यदर्शी, दिल्ली, स्व० पं० परमानन्द जी शास्त्री, दिल्ली, कु० भारती, वाराणसी तथा श्री भोलानाथ शर्मा, वाराणसी के सहयोग को आभार मानकर भी भुलाया नहीं जा सकता।

प्रस्तुत प्रबन्ध में जिन प्राचीन एवं अर्वाचीन मनीषियों के ग्रन्थों का उपयोग किया गया है, उन सबका ऋण स्वीकार करती हूं।

शोध-कार्य के सन्दर्भ में कई पुस्तकालयों का उपयोग किया गया है, जिनमें अकलंक सरस्वती भवन, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके प्रबन्धकों के सहयोग के लिए आभार व्यक्त करती हूं। अधिकांश ग्रन्थ हमारे निजी संग्रह से होने में कार्य करने में पर्याप्त सौविध्य रहा है। पदों के संग्रह के लिए कई प्राचीन शास्त्र

भंडारों का भी अवलोकन करना अपेक्षित हुआ। उनके अधिष्ठाताओं के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूं।

प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अन्य जिस-जिसका भी सहयोग रहा है उन सभी की आभारी हूं।

भारतीय भक्ति परम्पराओं में से जैन परम्परा के अतिरिक्त अन्य धाराओं पर पर्याप्त अनुशीलन कार्य हुआ है, किन्तु जैन धारा पर, जहां तक हमारी जानकारी है, इस प्रकार का यह सर्वप्रथम कार्य है जो स्वतन्त्र रूप से जैन भक्ति पर किया गया है तथा जिसमें अध्ययन को प्राकृत वाङ्मय के प्राचीनतम छोर से जोड़ कर हिन्दी भक्त-साहित्य तक का व्यापक आयाम दिया गया है। आशा है प्रस्तुत अनुशीलन से भारतीय विद्या विशेषकर भारतीय संस्कृति की जैन धारा के अनुसन्धानों में एक नयी कड़ी जुड़ेगी। इस प्रबन्ध से इस बात का भी स्पष्ट समाधान और जानकारी मिलेगी कि निवृत्ति और ज्ञानप्रधान मानी जाने वाली जैन परम्परा में भक्ति को अत्यन्त उन्नत प्रतिष्ठा प्राप्त है। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय भक्ति परम्पराओं का अनुशीलन करते समय इसका समुचित मूल्यांकन किया जाये। इसके साथ-ही डा० प्रेमसागर जैन के दो जिल्दों में प्रकाशित शोध प्रबन्ध तथा इन वर्षों में हिन्दी के जैन कवियों पर जो कार्य हुए हैं, उन सबका समावेश भविष्य में हिन्दी साहित्य के इतिहासों में किया जाना चाहिए।

अपने प्रस्तुत अनुशीलन के विषय में विशेष न कह कर इतना कहना पर्याप्त समझती हूं कि यदि इस अध्ययन को विद्या के क्षेत्र में उपयोगी और महत्वपूर्ण माना गया तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूंगी। इसमें जो भी श्रेष्ठ और सरस है वह उन मनीषियों के ग्रन्थों का नवनीत है जिनका इसके प्रणयन में उपयोग किया गया है। जहां कहीं भूल-चूक है, वह मेरी अपनी है। ज्ञान का सागर अपार है, उसका पार पाना कठिन है। को न विमुह्यति ज्ञानसमुद्रे।

सुनीता जैन

अनन्त चतुर्दशी
१३ सितम्बर १९८१

(सुनीता जैन)

विषय-सूची

	पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन	एक
विषय-सूची	उन्नीस
प्रथम अध्याय : जैन भक्ति: धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि	१-५४

भारतीय संस्कृति में श्रमण परम्परा, जैन धर्म का परम्परागत इतिहास, अर्हत् या अरिहंत, तीर्थंकर, तीर्थंकर की सामान्य विशेषताएं, पंच कल्याणक, तीर्थंकरों के जीवन की विशेष घटनाएं और भक्ति काव्य की दृष्टि से उनका महत्व ।

दार्शनिक चिन्तन - जीव और जगत, द्रव्य का स्वरूप और भेद आत्मा या चेतन तत्व, लोक या संसार, सृष्टिकर्तृत्व का निषेध, तत्वव्यवस्था तथा कर्मसिद्धान्त, पुण्य-पाप की अवधारणा, मानव-जीवन की श्रेष्ठता, मोक्ष या निश्रेयस, मुक्त या सिद्ध अवस्था, मोक्षमार्ग, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, अहिंसा मूलक आचारसंहिता, भक्ति के सन्दर्भ में धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं की भूमिका और उसका महत्व ।

द्वितीय अध्याय : जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा	५५-१०६
परिच्छेद १ : भक्ति की अवधारणा	५५- ६८

'भक्ति' शब्द की निरुक्ति, भक्ति के लिए प्राचीन प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश ग्रन्थों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि; अनुराग, सेवा, वैय्यावृत्य, सामायिक, आराधना, आवश्यक, कृतिकर्म, विनय, उपासना आदि के आधार पर भक्ति की अवधारणा का विवेचन ।

परिच्छेद २:भक्ति के अंग और प्रकार ६६-६२

भक्ति के अंगों के प्राचीन विवरण, पर्युपासना के अंग-उपगमन, अभिगमन, आदक्षिण-प्रदक्षिण, वंदण-नमंसण, पर्युपासन, श्रुति, संस्तव, कीर्तन, गुणकीर्तन, नामजप, पूजा-अर्चा आदि ।

परिच्छेद ३ : भक्ति का प्रयोजन ६३-१०६

भक्ति का चरम लक्ष्य निश्रेयस, आराध्य में कर्तृत्व का आरोप, सांसारिक कामनाओं के लिए भक्ति का निषेध, भक्ति से पुण्योपार्जन, कर्म-क्षय, भक्ति से मनोरथों की पूर्ति और सिद्धियां प्राप्त होने के उदाहरण और कथाएं, वीतराग की भक्ति से लौकिक समृद्धि के साथ आध्यात्मिक विकास और अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति ।

तृतीय अध्याय : उपास्यतत्व एवं भक्ति के अन्य उपादान १०७-२१२

परिच्छेद १ : देव या परमात्म-तत्व १०७-१२६

परमात्म-तत्व की अवधारणा, सिद्ध परमेष्ठी और परमात्मा का स्वरूप, आत्मा और परमात्मा में सादृश्य, तीर्थंकर या अर्हन्त की स्वरूपगत विशेषताएं, सिद्ध, अर्हन्त, जिन और आत्मा में तात्विक दृष्टि से सादृश्य एवं कर्म की बद्धता, अबद्धता की दृष्टि से वैसादृश्य, प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश की परम्परा का हिन्दी के जैन कवियों द्वारा अनुपालन, हिन्दी पदों में अर्हन्त सिद्ध और आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन ।

परिच्छेद २ : जिनवाणी या वाग्देवता-तत्व १२७-१४३

तीर्थंकर या जिनेन्द्र के उपदेश, जिनवाणी, श्रुत या आगम का स्वरूप, वाग्देवता-तत्व, श्रुत-परम्परा और आगमों का महत्व, वाग्देवी या श्रुत की उपासना-भक्ति का महत्व और प्रयोजन, प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की परम्परा में जैन कवियों के हिन्दी पदों में जिनवाणी या वाग्देवता-तत्व का स्वरूप और उसकी उपासना-भक्ति, श्रुतभक्ति का सांस्कृतिक अवदान ।

परिच्छेद ३ : गुरु-तत्व १४४-१६७

गुरुतत्व का स्वरूप, भक्ति के सत्धर्म में गुरु का महत्व, तात्विक दृष्टि से गुरु का विश्लेषण, गुरु की लाक्षणिक विशेषताएं, परमगुरु, आचार्य, उपाध्याय और साधु, आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा स्वयं अपना गुरु है, प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की परम्परा में जैन कवियों के हिन्दी पद साहित्य में गुरु तत्वका विश्लेषण तथा गुरु भक्ति, हिन्दी के अन्य पद साहित्य में गुरु-तत्व ।

परिच्छेद ४ : भक्ति के अन्य उपादान १६८-१७७

चैत्य और स्तूप, प्रतिमा विज्ञान के साथ भक्ति के उपादानों का विकास, जिन प्रतिमा, विभिन्न तीर्थंकर मूर्तियां, जिनालय, देव-कुल-यक्ष-यक्षी तथा अन्य देवी-देवता, तीर्थवन्दन आदि ।

परिच्छेद ५ : जैन धर्म में मूर्ति पूजा : ऐतिहासिक और समीक्षात्मक दृष्टि १७८-२१२

जैन भक्ति परम्परा में पूजा का विकास, षडावश्यक और पूजा मूर्ति तथा पूजा के उपादानों का क्रमिक विकास, पुरातात्विक साक्ष्य और मूर्तिपूजा, पूजा के भेद, विभिन्न पूजा विधियां, अष्टद्रव्य-पूजा, पूजा विधियों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान, अभिषेक, आह्वान विसर्जन, श्रौत-स्मार्त प्रभाव, जिन प्रतिमा के अतिरिक्त अन्य देवी देवताओं की पूजा, पूजा में सात्विकता और अहिंसामूलक आचार आदि ।

चतुर्थ अध्याय : भक्ति और भावाभिव्यंजना २१३- ३१२

परिच्छेद १ : विनय भाव २१३-२५५

भक्ति में विनय का महत्व, आराध्य की महत्ता, महत्ता की अभिव्यक्ति के विविध प्रकार-गुणकीर्तन आदि। आराध्य की महत्ता के लिए आत्मलघुता, दैन्य, विनती, दास्य भाव, सेवा, शरणागति, संसार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए आत्म-समर्पण ।

परिच्छेद २ : दाम्पत्य भाव ---------- २५६-३००

रागात्मिकावृत्ति, माधुर्योपासना और परानुरक्ति की अवधारणा, सूफियों तथा निर्गुण सन्तों का दाम्पत्य भाव, जैन परम्परा में मोक्ष के लिए मुक्ति वधू अवधान, मुक्ति वधू को प्राप्त करने के लिए चेतन की व्यग्रता, सुमति और चेतन के रूपकों द्वारा दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति, आध्यात्मिक फाग और होरी के रूपक, नेमि-राजुल के कथा प्रसंग के माध्यम से विरह और दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति, दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति में सात्विकता का निर्वाह।

परिच्छेद ३ : वात्सल्य भाव ---------- ३०१-३१२

वैष्णव भक्ति में भगवान् के बाल रूप की उपासना, जैन परम्परा में बालरूप की आराधना का स्वरूप, गर्भ और जन्मकल्याणकों के माध्यम से वात्सल्य भाव की अभिव्यक्ति, जन्मोत्सव और बधाइयाँ जैन कवियों के पदों में सूर और तुलसी की तरह वात्सल्य भाव के वर्णन की कमी का सैद्धान्तिक कारण आदि।

पंचम अध्याय : भक्ति और उद्बोधन ---------- ३१३-३४६

परिच्छेद १ : चेतन को सम्बोधन ---------- ३१३-३२९

चेतन का स्वरूप और उसकी मोहदशा, चेतन और जड़ की स्वरूप-गत भिन्नता का प्रतिपादन कर चेतन को आत्मविकास में लगने के लिए उद्बोधन, चेतन को सम्बोधित पदों में सख्य भाव के प्रति-पादन का विचार, चेतन को सम्बोधन के माध्यम से आत्माराधना।

परिच्छेद २ : मन को सम्बोधन ---------- ३३०-३४६

मानव व्यक्तित्व मेंमन की महत्ता, मानस की प्रवृत्तियों का नियन्त्रक

और संचालक मन, मन को कुप्रवृत्तियों से हट कर सद्वृत्तियों में लगने के लिए सम्बोधन, मन का व्यामोह और पर पदार्थों में आसक्ति, विषयों की निस्सारता, जीवन की नश्वरता और संसार की भयानकता का चित्रण कर मन को जिन भक्ति में लगने के लिए सम्बोधन ।

परिच्छेद ३ : संसारी जीव को सम्बोधन ३४७-३८५

संसार की दशा का चित्रण, सांसारिक सुख-दुःख, नाते-रिश्ते, स्वार्थों पर आधारित सम्बन्ध, राग-द्वेष, मोह के परिणाम, विषय-सुखों के परिणाम की दारुणता, नर-भव की दुर्लभता, मनुष्यजन्म, निरोग शरीर और सत्संगति के सुयोग की महत्ता और उनका लाभ लेने के लिए सलाह, कर्मों के शुभ और अशुभ फल स्वयं भोगने की अनिवार्यता, होनहार और कर्मफल में विचलित न होने की सलाह और जिनभक्ति तथा आत्मविकास में प्रवृत्त होने की प्रेरणा ।

परिच्छेद ४ : संसारी जीव को सीख ३८६-४०६

संसारी जीव को काम, भोग और बन्ध की कथा अनादिकाल से सुपरिचित है । इसी लिए वह उनमें प्रवृत्त होता है, विषयों में रति से दुःख अवश्यंभावी है। मोह के कारण संसारी जीव सुगति के रास्ते नहीं लगता, नीम का कीड़ा कड़वे स्वाद को भी मधुर मानता है, यदि उसे आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का और देह से उसकी भिन्नता का भान हो जाये तो कर्म की बेल टूट जाये मोहनींद से जगाने और अपना 'कारज' सिद्ध करने की सीख, आत्म स्वरूप को कैसे प्राप्त करे, विषयों को कैसे छोड़े, मूढ़ता कैसे मिटे, जिनचरणों में भक्ति कैसे हो इसके लिए अनेक प्रकार की सीख, भर्त्सना और सुगति के मार्ग पर चलने की शिक्षा ।

षष्ठ अध्याय : भक्ति, अध्यात्म और साधना ४१०-४५६

भक्ति की आध्यात्मिकता ४१०-४२६

जैन भक्ति का मूल स्वर आध्यात्मिक, भक्ति का विकास, वैराग्य और साधना की ओर, आत्मबोध, जिनवाणी का श्रवण या स्वाध्याय अथवा सुगुरु के उद्बोधन से मोह का मंद होना, अपने स्वरूप को पहचानना, राग-द्वेष, क्रोध, मोह आदि के स्वरूप को जानकर उन्हें त्यागना, आध्यात्मिक विकास की ओर प्रगति, कृत कर्मों की आलोचना और भविष्य में वैसे कर्म न करने के लिए प्रत्याख्यान करना आध्यात्मिक विकास के लिए आलोचना और प्रत्याख्यान का महत्व, वैराग्य और साधना की ओर बढ़ते चरण।

आत्मस्वरूप और आत्मानुभव ४३०-४४५

सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने समझने की ओर प्रवृत्ति, आत्मा के अनन्तगुणों का बोध, स्व और पर के अन्तर की समझ, जन्म, जरा और मृत्यु से अतीत शाश्वत आत्मा का बोध, आत्मबोध और आत्मानुभव से ही मोक्ष या शिव सुख सम्भव।

ध्यान, साधना और योग ४४६-४५६

आत्मानुभव से आत्मानुराग, आत्मानुराग या आत्मरति ही वास्तविक ध्यान, साधना, ध्यान और योग के बाह्य और अन्तरंग स्वरूप का परिज्ञान। ध्यान और योग के लिए पद्मासन और कायोत्सर्ग का महत्व, महाव्रत धारण करके वन में एकान्त ध्यान साधना का वर्णन, परिषह जय और कठोर तप, आदिनाथ की दुद्धर साधना का चित्रण, योग की चरम स्थिति और कर्मक्षय की प्रक्रिया, ज्ञाता और ज्ञेय, ध्याता और ध्येय, आराध्य और

आराधक के भेद की क्रमशः समाप्ति । भक्ति, अध्यात्म और साधना की अन्तिम उपलब्धि मोक्ष ।

सप्तम अध्याय : उपसंहार एवं निष्कर्ष ४६०-४८८

प्रास्ताविक -- भारत में भक्ति की विभिन्न धाराओं का विकास और परस्पर आदान-प्रदान , भारतीयेतर साधना-भक्ति का भारत में आगमन और भारतीयकरण ।

भागवत भक्ति -- श्री मद्भागवत में प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप , पूर्ववर्ती परम्परा और उत्तरकालीन विकास, भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या, शाण्डिल्य और नारद भक्ति सूत्र, भागवत भक्ति का व्यापक प्रभाव ।

वैष्णव भक्ति -- विष्णु का स्वरूप विकास और वैष्णव भक्ति, वैष्णव भक्ति के प्रसार के विविध सोपान, भक्ति आन्दोलन और वैष्णव भक्ति की भूमिका ।

सगुण और निर्गुणोपासना -- प्राचीन परम्पराओं में निर्गुण और सगुणोपासना का स्वरूप, सूर, तुलसी और कबीर तक की विकास यात्रा में सगुण, निर्गुण, जैन परम्परा का निष्कल और सकल परमात्मा या सिद्ध और 'अरिहन्त' की भक्ति ।

बौद्ध परम्परा -- भारतीय भक्ति परम्पराओं में बौद्ध परम्परा का मौलिक अवदान, हीनयान और महायान, मन्त्रयान, वज्रयान, बौद्ध साधना में तन्त्र, कमल और कुलिश की साधना, बौद्ध सिद्धों की सहज साधना, भारतीय भक्ति परम्पराओं में बौद्ध चिन्तन और आचार का समावेश ।

सूफी-इश्क -- सूफी सन्तों का भारत आगमन और सूफी साधना का प्रसार । सूफियों की इश्क साधना, भारतीयता का प्रभाव ।

भक्ति, अध्यात्म और रहस्यवाद -- भारतीय भक्ति परम्पराओं में जैन धारा की मौलिकता, आत्माओं की अनेकता और स्वातन्त्र्य का

प्रतिपादन, ब्रह्म अद्वैत, आत्माद्वैत और एकेश्वरवाद का निरसन और समन्वय, सभी जीवों में आत्मोपम्य और परमात्मत्व के विकास की सम्भावनाओं का प्रतिपादन, भक्ति का चरम लक्ष्य आत्मा के परमात्म स्वरूप का विकास, आध्यात्मिक विकास के लिए रत्नत्रय, ध्यान, साधना, और योग की आवश्यकता ।

परिशिष्ट :

१- हिन्दी पद साहित्य के रचयिता जैन कवि ४८९
२- हिन्दी साहित्य के रचयिता अन्य जैन कवि ४९१
३- जैन कवियों के हिन्दी पद साहित्य में प्रयुक्त राग-रागनियां ४९४
४- सन्दर्भ ग्रन्थ सूची ४९६